दिगम्बर जैन परम्परा में संघ, गण, गच्छ, कुल और अन्वय

- डॉ. फूलचन्द जैन "प्रेमी"*

श्रमण परम्परा का भारतीय संस्कृति के विकास में महनीय योगदान है। अत: श्रमण परम्परा के अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति का अनुशीलन अपूर्ण ही कहा जायेगा क्योंकि श्रमणसंस्कृति भारत की पुरातन संस्कृतियों में से है। वेदों में इस परम्परा का उल्लेख स्वयं प्राचीनता का प्रमाण है। अतः इसे वैदिक परम्परा से प्राचीन कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। पुरातात्विक, भाषावैज्ञानिक एवं साहित्यिक आदि अन्वेषणों के आधार पर विशिष्ट विद्वानों ने यह स्वीकार भी किया है कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में जो संस्कृति थी वह श्रमण, निर्ग्रन्थ, व्रात्य या अर्हत् संस्कृति ही होनी चाहिए। यह संस्कृति सुदूर अतीत में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित होकर अन्तिम अर्थात् चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के माध्यम से परम्परा द्वारा सहस्रों समर्थ आचार्यों द्वारा अविच्छिन्न चली आ रही है।

श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशिष्ट विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही है। उनमें श्रम, संयम, त्याग, अहिंसा और आध्यात्मिक मूल्य जैसे आदर्शों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन आदर्शों के कारण इस संस्कृति ने अपनी विशेष पहचान बनाई तथा अपना गौरवपूर्ण अस्तित्व अक्षुण्ण रखा।

जब हम सभी तीर्थंकरों के जीवन और उनके मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ के विषय में जानकारी प्राप्ति हेतु तद्विषयक उपलब्ध साहित्य का अवलोकन करते हैं, तो प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक प्रत्येक के समय में हमें एक सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित श्रमण संघ की झलक दिखलाई देती है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से अध्यात्मसाधना का संघीकरण तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से स्पष्ट दिखलाई देता है। तीर्थंकर महावीर ने तत्कालीन अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए श्रमणसंघ का जो लोकतंत्रात्मक स्वरूप प्रतिष्ठित किया वह अप्रतिम तो था ही साथ ही इसमें व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के पूर्ण अवसर भी उपलब्ध थे। संघीय अनुशासन उसके संचालन की प्रविधियाँ और व्यवस्थायें उस युग की सर्वोच्च उपलब्धियाँ थीं।

श्रमणसंघ की व्यवस्था गणतन्त्रीय पद्धति पर आधारित थी और यही परम्परा आज तक चली आ रही है। संघ व्यवस्था का मूल लक्ष्य अहिंसा, स्वतन्त्रता, सापेक्षता और संयम के आधार पर आत्मकल्याण करना है। जैन शास्त्रों में संघ के पाँच आधार बताये गये हैं -- आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर। जहाँ ये आधार न हों, वहाँ रहना उचित नहीं है। संघ संचालन का सम्पूर्ण दायित्व इन्ही आधारों पर होता था। आचार्य शिष्यों को दीक्षा, व्रताचरण और अनुशासन आदि रूप अनुग्रह करने का कार्य करते, उपाध्याय शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन एवं धर्मोपदेश देने का कार्य करते, प्रवर्तक संघ का प्रवर्तन करते, स्थविर का कार्य मर्यादा का उपदेश एवं आचरण में स्थिर रखना तथा गणधर का कार्य गण की रक्षा करना था। इस तरह इन पाँच स्तम्भों से ही श्रमण संघ की परिपूर्ण प्रतिष्ठा दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के पथ का निरन्तर विकास और मुक्ति पथ की साधना सम्भव होती है।

श्रमणाचार का विकास क्रमिक हुआ है। इसके पीछे मानव स्वभाव, देश की परिस्थितियाँ और काल का प्रभाव प्रमुख कारण रहे हैं। इसे हम उपलब्ध साहित्य, ग्रन्थ, प्रशस्तियों, पट्टावलियों और उत्कीर्ण-लेख सामग्री द्वारा समझ सकते हैं।

साहित्य पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि तीर्थंकर महावीर ने अपने जीवनकाल में श्रमणसंघ के कोई भेद नहीं किये थे। उसका एक सुव्यवस्थित रूप था और इसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। भगवान् महावीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं कठिन चर्या का पालन करने वाले थे। इनके निर्वाण के काफी समय तक अर्थात् श्रुतकेवली भद्रबाहु (वीर नि.सं. 492) तक निर्ग्रन्थ महासंघ का सुसंगठित रूप अविच्छिन्न रहा। किन्तु क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार प्रत्येक व्यवस्था में परिवर्तन भी होता है। अखण्ड निर्ग्रन्थ महाश्रमण भी इनसे अछूता नहीं रहा। अतः वीर निर्वाण के 6-7 सौ वर्ष बाद सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ दो परम्पराओं -- दिगम्बर और श्वेताम्बर में विभक्त हो गया। इस विभाजन के पीछे मत-वैभिन्न्य की लम्बी कहानी है, किन्तु हम यहाँ उसमें न उलझकर अपने प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करना ही अभीष्ट समझते हैं।

इस निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य विषय दिगम्बर जैन परम्परा के अन्तर्गत संघ, गण, गच्छ, अन्वय, कुल आदि की परम्परा और उसके स्वरूप का विवेचन एवं प्रतिपादन करना है। किसी भी संघ में गण, गच्छ आदि विभिन्न इकाइयाँ मूलतः विशाल संघ के सुचारु रूप से संचालन हेतु निर्मित हुई थीं। क्योंकि विशाल संघ के सुचारु रूप से संचालन हेतु संघ के कार्यों को विभाजित करके उनका व्यवस्थित कार्यान्वयन करना होता है। किन्तु देश, काल आदि के कारण इनकी आचार व्यवस्था में अन्तर पड़ता गया, जिन्होंने विभिन्न परम्पराओं अर्थात् संघों, गणों, कुलों, गच्छों आदि का रूप ले लिया। इनके विवेचन हेतु संघ, गच्छ आदि का स्वरूप प्रस्तुत है।

मूलतः इन इकाइयों में "गच्छ" से तात्पर्य साथ-साथ रहने वाले श्रमणों के एक निश्चित समूह से था। जितने श्रमण एक साथ रहकर विहार एवं चातुर्मास करते हैं उनके समूह को "गच्छ" कहते हैं। विभिन्न गच्छ मिलकर "कुल" का रूप धारण करते हैं। अतः एक ही आचार्य के शिष्य-प्रशिष्यों के समूह को "कुल" कहा जाता है। कुलों में एक ही प्रकार की आचार-विचार प्रणाली का अनुसरण करने से ये सब मिलकर "गण" कहलाते हैं अर्थात् "गण" का रूप धारण कर लेते हैं और गणों का समूह "संघ" कहलाता है। इनका विवेचन प्रस्तुत है --

संघ

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय से युक्त श्रमणों के समूह को संघ कहते हैं[1] अथवा जो श्रम अर्थात् तपस्या करते हैं उन्हें श्रमण कहा जाता है तथा ऐसे श्रमणों के समुदाय को श्रमण संघ कहते हैं।[2]

मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ अथवा ऋषि, मुनि, यति और अनगार रूप चातुर्वर्ण्य संघ चारों गतियों (नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्य) में भ्रमण का नाशक होता है, अतः नव-प्रसूता गाय जैसे अपने बछड़े पर वात्सल्य करती है, वैसे ही प्रयत्नपूर्वक संघ पर वात्सल्य भाव रखना चाहिए।[3] नन्दिसूत्र में संघ को कमल की तरह बतलाया गया है। क्योंकि यह कमल रूपी संघ कर्मरज रूपी जलराशि से अलिप्त ही रहता है। श्रुतरत्न (ज्ञान या आगम) उसका दीर्घनाल है। पंचमहाव्रत उसकी स्थिर कर्णिका तथा उत्तरगुण उसका मध्यवर्ती केशर (पराग) है, जो श्रावक रूपी भ्रमरों से सदा घिरा रहता है, जिनदेव रूपी सूर्य के तेज से प्रबुद्ध होता है तथा जिसमें श्रमणगण रूपी सहस्र पत्र होते हैं।[4] यह "संघ" का स्वरूप है। इसके प्रमुख को "आचार्य" कहा जाता है।

गण

स्थविर-मर्यादा के उपदेश या श्रुत में वृद्ध श्रमणों (स्थविरों) की सन्तति (परम्परा) या उनके समूह को 'गण' कहते हैं।[5] गण के प्रधान गणाचार्य, गणी या गणधर कहलाते हैं। आचारांग की शीलांकवृत्ति में कहा है कि जो आचार्य नहीं हैं किन्तु बुद्धि से आचार्य के सदृश हों एवं गुरु की आज्ञा से साधु समूह (श्रमणगण) को लेकर पृथक् विहार करते हों, वे गणधर कहलाते हैं।[6]

इस प्रकार विशालसंघ से आचार्य की आज्ञानुसार निर्धारित श्रमणों के साथ अपने सम्यक् उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अलग विचरण करे, वह श्रमणों का समूह तथा उनकी परम्परा को "गण" कहते हैं तथा उनके प्रधान गणधर, गणाचार्य या गणी कहे जाते हैं। डॉ. गुलाबचन्द चौधरी के अनुसार गण का अर्थ बड़ी इकाई था, जिसका प्रबन्ध वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य करते थे जो कि अत्यन्त श्रद्धालु, सत्यवान्, मेधावी, स्मृतिवान्, बहुश्रुत एवं समभाव वाले होते थे। गणों का नाम प्रायः आचार्य के नाम से होता था।[7]

मूलाचार में गण, गच्छ एवं कुल -- इन शब्दों के ही उल्लेख और उसकी परिभाषाएँ मिलती हैं। परन्तु आचार्य वट्टकेर ने गण आदि निर्माण के प्रति बड़ा क्षोभ प्रकट करते हुए कहा है -- "गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है। विवाह से राग की उत्पत्ति होती है पर गण तो अनेक दुःखों की खानि है।[8] (इस युक्ति के पीछे भी शायद यही भाव है कि -- "हंसों की पंक्ति नहीं होती और साधु जमात बनाकर नहीं चलते")।

डॉ. गुलाबचन्द चौधरी के अनुसार दक्षिण भारत में इसलिए दीर्घ काल तक भद्रबाहु के बाद किसी संघ, गण या गच्छ का निर्माण नहीं हो सका। इसलिए दक्षिणी जैनधर्म की मान्यता में महावीर के बाद की गुरु परम्परा में वीर नि.सं. 683 अर्थात् लोहाचार्य तक एक-एक आचार्य शिष्य परम्परा से चले आये हैं और उनकी किसी शाखाओं, प्रशाखाओं का उल्लेख नहीं मिलता। बाद में संघ एवं गणादि की उत्पत्ति में भी उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों को नहीं लपेटा।[9]

गच्छ

गच्छ (गाछ के वृक्ष अर्थ में) ऋषियों के समूह को कहते हैं।[10] सात या तीन पुरुषों के समुदाय को भी "गच्छ" कहा जाता है।[11] बाद में गच्छ का अर्थ शाखा भी माना जाने लगा। गच्छ के प्रमुख गच्छाचार्य कहलाते हैं। इनका कार्य गच्छ के आचार की रक्षा करते हुए स्वयं श्रेष्ठ आचार का पालन करना है।

कुल

एक ही आचार्य की शिष्य सन्तति (परम्परा) का नाम कुल है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परम्परा को 'कुल' कहते हैं।[12] स्थानांग टीका के अनुसार कई गच्छों के समूह से "कुल" का निर्माण होता है।[13] मूलाचार में कहा गया है कि जब कोई श्रमण अन्य आचार्य के पास विशेष अध्ययन आदि के निमित्त जाता था तो वे आचार्य सर्वप्रथम उस नवागन्तुक श्रमण से नाम, गुरु आदि के साथ ही "कुल" की जानकारी भी प्राप्त करते थे।[14] डॉ. चौधरी के अनुसार "कुल" आचार्य के शिष्यों के क्रम से चले थे और शाखायें कुलों का प्रभेद थीं।[15] प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि लौकिक दोषों से रहित जो जिनदीक्षा के योग्य होता है वह कुल है।[16]

अन्वय

अन्वय का सामान्यतः तात्पर्य "वंश" है। यह प्रायः स्थान विशेष के नाम से स्थापित होता था। जैसे -- कोण्डकुण्डान्वय और चित्रकूटान्वय। वर्तमान में दिगम्बर परम्परा में नवीन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती हैं तो उनके लेख में प्रायः कुन्दकुन्दान्वय लिखने की परम्परा है। क्योंकि इन्हें मूलसंघ का प्रतिष्ठापक प्रमुख आचार्य माना जाता है। परवर्तीकाल में आचार्य कुन्दकुन्द के आचार की विशुद्धता, प्रभावक व्यक्तित्व और उनके द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड आदि उत्कृष्ट आध्यात्मिकता से भरपूर ग्रन्थों से लोग इतने प्रभावित हुए कि दिगम्बर परम्परा के अधिकांश संघ, गण, गच्छ आदि के प्रमुखों ने अपने को आचार्य कुन्दकुन्द, कुन्दकुन्दान्वय या कुन्दकुन्दाम्नाय से सम्बन्धित करने में गौरवान्वित समझा। लगभग 12वीं शती के बाद के मूर्ति लेखों के अध्ययन से तो मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय एक प्रतीत होते हैं।[17]

श्रीमती कुसुम पटोरिया ने लिखा है कि जब दिगम्बर परम्परा में कुछ शिथिलाचारी संघों का अविर्भाव हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया, तब आचार्य कुन्दकुन्द की भाँति आचरण की विशुद्धता के पक्षपाती आचार्यों ने शिथिलाचार के विरोध में अपने संघ को तीर्थंकर महावीर के मूलसंघ के निकट (या उनकी सीधी परम्परा का) घोषित करने के लिए "मूलसंघ" नाम दिया। क्योंकि दिगम्बरों में आचार्य कुन्दकुन्द आचरण की विशुद्धता के प्रबल समर्थक थे। अतः मूलसंघ का सम्बन्ध आचार्य कुन्दकुन्द के साथ स्थापित कर दिया तथा अपने से अतिरिक्त जैन संघों को जैनाभासी घोषित कर दिया, क्योंकि इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में गोपुच्छिक, श्वेतवसना, द्राविड, यापनीय और निर्पिच्छिक -- इन पाँच संघों को जैनाभास कहा है।[18] इनके अतिरिक्त "बलि" नामक अन्वय के एक उपभेद का भी उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है 'परिवार'।

इस तरह हम देखते हैं कि संघ के अन्तर्गत उपर्युक्त इकाइयाँ कार्य कर रही थीं, इनमें पहले परस्पर भेद या अन्तर का ही पता नहीं चलता था, किन्तु बाद में क्रमशः इनमें दूरियाँ बढ़ती गईं।

पद्मचरित्र[19] के रचयिता रविषेणाचार्य (वि.सं. 834) ने अपने ग्रन्थ में गुरुपरम्परा दी है, किन्तु अपने किसी संघ या गण का उल्लेख नहीं किया। इससे भी यह ज्ञात होता है कि दिगम्बर परम्परा में तब तक देव, नन्दि, सेन, सिंह, संघों की उत्पत्ति नहीं हुई थी, कम से कम ये भेद स्पष्ट नहीं हुए थे। शक सं. 1355 के मंगराज कवि के शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि भट्ट अकलंकदेव के स्वर्गवास के बाद यह संघ-भेद हुआ।[20]

दिगम्बर जैन परम्परा में संघ, गण, गच्छ, अन्वय आदि की परम्पराएँ

भगवान् महावीर का संघ, जो उनके बाद निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ के रूप में प्रसिद्ध था, वही भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय उत्तर भारत में बारह वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण दक्षिण भारत गया था और यह निर्ग्रन्थ संघ ही बाद में "मूलसंघ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ और दूसरा श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ के नाम से विख्यात हुआ।[21] श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र स्थविरावली में इस परम्परा के विविध भेदरूप गण तथा शाखाओं के नाम उल्लिखित हैं।

विविध भेदरूप गण, कुल, शाखाएँ आदि चाहे दिगम्बर परम्परा की हों अथवा श्वेताम्बर परम्परा की -- इन सब अन्तर्भेदों का कारण आचार-विचार भेद रहा है। यहाँ दिगम्बर परम्परा के संघ, गण, गच्छों आदि की परम्पराओं का विवेचन प्रस्तुत है --

इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार ग्रन्थ में लिखा है[22] कि वीर नि.सं. 565 वर्ष बाद पुण्डवर्धनपुरवासी आचार्य अर्हद्बली प्रत्येक पाँच वर्षों के बाद में सौ योजन की सीमा में बसने वाले मुनियों को युग प्रतिक्रमण के लिए बुलाते थे। एक समय उन्होंने ऐसे प्रतिक्रमण के अवसर पर समागत मुनियों से पूछा कि क्या सभी आ गये ? तो मुनियों ने उत्तर दिया -- हाँ, हम अपने संघ के साथ आ गये हैं। इस उत्तर को सुनकर उन्हें लगा कि जैनधर्म अब गण-पक्षपात के साथ ही रह सकेगा। अतः उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामों से विभिन्न संघ स्थापित किये, ताकि परस्पर में धर्म वात्सल्य भाव वृद्धिगत हो सके।

आचार्य अर्हद्बलि ने समागत निर्ग्रन्थ संघ में से जो मुनियों का समूह गुफा से आया था उन्हें "नन्दि" नाम दिया। जो अशोक वाटिका से आये थे उनमें से किन्हीं को "वीर", किन्हीं को "अपराजित" और कुछ को "देव" नाम दिया। जो पंचस्तूप निवास से आये थे उनमें से कुछ को "सेन" तो कुछ को "भद्र" नाम दिया। जो शाल्मलिवृक्ष मूल से आये थे, उनमें से किन्हीं को "गुणधर", तो कुछ को "गुप्त" नाम दिया। जो खण्डकेशर वृक्ष के मूल से आये थे, उनमें से कुछ को "सिंह" तथा किन्हीं को "चन्द्र" नाम दिया।[23]

संघ के पाँच भेद

उपर्युक्त सभी संघ "मूलसंघ" के अन्तर्गत ही हैं। डॉ. चौधरी जी ने लिखा है कि "मूलसंघ" के पुनर्गठन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल में 9-10वीं शताब्दी के लगभग सभी गणों को मूलसंघ के एक छत्र के नीचे एकत्रित किया गया तथा मूलसंघ को चार शाखाओं में विभाजित किया गया -- सेन, नन्दि, देव और सिंह। इस संघ में स्थान आदि के नाम पर विशेषकर दक्षिण भारत के स्थानों के नाम से स्थापित विभिन्न संघ, गण, गच्छ आदि के अग्र लिखित उल्लेख मिलते हैं।[24] जैसे --

1. **संघ** -- इसके अन्तर्गत मुख्यरूप में मूलसंघ, नन्दिसंघ, नविलूरसंघ, मयूरसंघ, किचूरसंघ, किट्टूरसंघ, कोल्लतूरसंघ, गनेश्वरसंघ, गौडसंघ, श्रीसंघ, सिंहसंघ, परलूरसंघ आदि।

2. **गण** -- बलात्कारगण (प्रारम्भिक नाम बलिहारी या बलगारगण), सूरस्थगण, कोलाग्रगण, उदार, योगरिय, पुन्नागवृक्ष, मूलगण, पकुर आदि।

3. **गच्छ** -- चित्रकूट, होत्तगे, तिगरिल, होगरि, पारिजात, मेषपाषाण, तिंत्रिणीक, सरस्वती, पुस्तक, वक्रगच्छ आदि।

4. **अन्वय** -- कौण्डकुदान्वय, श्रीपुरान्वय, कित्तूरान्वय, चन्द्रकवाटान्वय, चित्रकूटान्वय आदि।[25]

सामान्यतः दिगम्बर परम्परा में प्रमुख चार संघ हैं -- मूलसंघ, द्रविडसंघ, काष्ठासंघ और यापनीयसंघ। इनमें प्राचीन मूल, द्राविड व यापनीय तीनों संघों में कतिपय गणों व गच्छों के समान नाम मिलते हैं। मूलसंघ में द्रविडान्वय तथा द्रविडसंघ में कोण्डकुन्दान्वय का उल्लेख मिलता है। मूलसंघ के सेन व सूरस्थगण द्राविडसंघ में भी प्राप्त होते हैं। नन्दिसंघ तीनों में ही है। मूलसंघ के बलात्कारगण, क्राणूरगण यापनीयसंघ में भी हैं। इनमें इन संघों की शाखाओं के संक्रमण का भी पता चलता है।[26]

नन्दिसंघ

डॉ. चौधरी के अनुसार[27] ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि नन्दिसंघ या गण बहुत प्राचीन है। इस संघ की एक प्राकृतपट्टावली मिली है। नन्दिसंघ यापनीय और द्राविडसंघ में भी पाया जाता है। सम्भव है कि प्रारम्भ में नन्दान्त नामधारी (यथा - देवनन्दि, विद्यानन्दि आदि) मुनियों के नाम पर इसका संगठन किया गया हो अथवा नन्दिसंघ की परम्परा में दीक्षित होने के कारण इनके नाम के साथ "नन्दि" जुड़ गया हो। मूलसंघ के साथ इसका उल्लेख यापनीय एवं द्राविड संघ के बाद 12वीं शताब्दी के लेखों में पाते हैं, पर 14-15वीं शताब्दी में नन्दिसंघ एवं मूलसंघ एक-दूसरे के पर्यायवाची बन जाते हैं। इस संघ की उत्पत्ति प्रारम्भ में गुफावासी मुनियों से कही गई है, जिससे प्रतीत होता है कि इस संघ के मुनिगण कठोर तपस्या प्रधान निर्लिप्त वनवासी थे, पीछे तो युगधर्म के अनुसार वे बहुत बदल गये।

देवसंघ -- देवसंघ का संगठन देवान्त नामधारी (नाम के साथ देव नामक संघ परम्परा के होने वाले) मुनियों पर से हुआ था, पीछे इसका प्रतिनिधि देशीगण उपलब्ध होता है।

सेनसंघ -- सेनसंघ का नाम भी सेनान्त अपने नाम के साथ "सेन" लिखने वाले, जैसे जिनसेन आदि मुनियों से हुआ है और इसके प्रतिष्ठापक "आदिपुराण" के कर्ता जिनसेन भट्टारक माने जाते हैं। पर इन्होंने अपने गुरु वीरसेन को पंचस्तूपान्वय का लिखा है। इस अन्वय का उल्लेख पाँचवीं शताब्दी के पहाड़पुर (बंगाल) के लेखों में मिलता है। मथुरा के पंचस्तूपों का वर्णन हरिवंश कथाकोष में आया है। लगता है यह बहुत प्राचीन मुनिसंघ था। सेन गण का पीछे बहुत नाम हुआ, प्रायः सभी भट्टारक सेन गण के ही हुए हैं। इनके मठ कोल्हापुर, मद्रास, पोगोंड (आंध) और कारंजा में हैं सेनान्वय बड़ा प्रभावशाली रहा है।

द्राविडसंघ -- द्राविडदेश के साधु समुदाय का नाम द्राविडसंघ है। दर्शनसार ग्रन्थ में लिखा है कि आचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने वि.सं. 526 में दक्षिण के मदुरा में द्राविडसंघ की स्थापना की।[28] शिलालेखों में द्राविडसंघ का पहले कुन्दकुन्दान्वय तथा मूलसंघ के साथ फिर नन्दिसंघ के साथ सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। बाद में यह यापनीय सम्प्रदाय के विशेष प्रभावशाली नन्दिसंघ में, इस सम्प्रदाय में अपना व्यावहारिक रूप पाने के लिए उससे सम्बन्ध रखा और द्राविडगण के रूप में उक्त संघ के अन्तर्गत हो गया। बाद में यह द्राविडगण इतना प्रभावशाली हुआ कि उसे ही संघ का रूप दे दिया गया और नन्दिसंघ को नन्दिगण के रूप में निर्दिष्ट किया गया।[29]

काष्ठासंघ-- यह अन्यसंघों की अपेक्षा अर्वाचीन है। इसकी स्थापना आचार्य जिनसेन के सतीर्थ्य विनयसेन के शिष्य कुमारसेन द्वारा वि.सं. 753 में हुई, जो नन्दितट में रहते थे। पं. नाथूराम प्रेमी ने इस तिथि को निश्चित नहीं माना। वि.सं. 1734 के पं. बुलाकीचन्द्र के अनुसार काष्ठासंघ की उत्पत्ति उमास्वामी के पट्टाधिकारी लोहाचार्य द्वारा अगरोहा नगर में हुई और काठ की प्रतिमा की पूजा का विधान करने से उसका नाम काष्ठासंघ पड़ा।[30] इस संघ का सर्वप्रथम शिलालेखीय उल्लेख सं. 1088 के दूबकुण्ड से प्राप्त लेख में है।

बलात्कारगण -- नाम साम्य को देखते हुये यापनीयों के बलहारि या बलगार गण से यह निकला है। क्योंकि दक्षिणपथ के नन्दिसंघ में "बलिहारी या बलगार" गण के नाम पाये जाते हैं, किन्तु उत्तरापथ के नन्दिसंघ में सरस्वती गच्छ और बलात्कार गण ये दो ही नाम मिलते हैं। "बलगार" शब्द दक्षिण भारत के एक ग्राम विशेष का द्योतक है। बलगार गण का पहला उल्लेख सन् 1071 का है। मूलसंघ नन्दिसंघ का बलगार गण ऐसा नाम दिया है।[31]

दूसरा मत यह है कि "बलात्कार" शब्द स्थानवाची नहीं है, अपितु बलात् (जबरदस्ती) धार्मिक यौगिक क्रियाओं में अनुरक्त होने या लगे रहने आदि के कारण इसका नाम "बलात्कार" हुआ जान पड़ता है।[32] इसके लिए एक मूर्ति-लेख का उदाहरण (शक सं. 1277 का) इस प्रकार है -- "कुन्दकुन्दान्वय, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण, मूलसंघ के अमरकीर्ति आचार्य के शिष्य, माघनन्दि व्रती के शिष्य भोगराज द्वारा शान्तिनाथ की मूर्ति की स्थापना की गई।"

यापनीय संघ

एक समय ऐसा आया कि तत्त्वज्ञान एक होने पर भी आचारगत भिन्नता के कारण दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा की दूरी उत्तरोत्तर दूर होती जा रही थी। अतः इन दोनों में सामंजस्य लाने का श्रेय "यापनीयसंघ" को है। इसके प्रादुर्भाव के पीछे काफी मतभेद है किन्तु यह काफी प्राचीन है। कदम्ब नरेश मृगेशवर्मा के एक ताम्रपत्र (सन् 470 ई.) में इस मतभेद का एक उल्लेख श्वेतपट महाश्रमण संघ और निर्ग्रन्थ महाश्रमणसंघ के रूप में भी किया गया है। इसी नरेश के एक-दूसरे लेख में यापनीय और कूर्चक संघ के साथ निर्ग्रन्थ संघ का उल्लेख है। वस्तुतः यापनीयसंघ दिगम्बर परम्परा के काफी नजदीक है। एक समय यापनीयसंघ बड़ा ही राज्यमान्य था। इसका प्रधान केन्द्र कर्नाटक देश का उत्तरीय-प्रदेश रहा है। इसमें अनेकों श्रेष्ठ प्रतिभाशाली विद्वान् आचार्य हुये हैं। इस सम्प्रदाय के कई ग्रन्थ दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में मान्य हैं और कुछ संशोधन के साथ पढ़े जाते हैं। शिवार्यकृत भगवतीआराधना और इसकी विजयोदयाटीका के कर्ता आचार्य अपराजित सूरि तथा शाकटायन आदि अनेक आचार्य यापनीय परम्परा से सम्बद्ध श्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं।

संघभेद

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में भद्रबाहु एवं लोहाचार्य तक की गुरु परम्परा के पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हदत्त -- इन चार आचार्यों का उल्लेख किया गया है। ये सभी आचार्य अंगों और पूर्वों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकदेश ज्ञाता थे। दिगम्बर परम्परा के अनुसार भ. महावीर के निर्वाण के पश्चात् 62 वर्ष में तीन अनुबद्ध केवलज्ञानी हुए। उसके पश्चात् 100 वर्ष तक पाँच श्रुतकेवली हुए, उसके बाद 181 वर्ष तक दस पूर्वधारी रहे। फिर 123 वर्ष तक ग्यारह अंगधारी रहे। उसके बाद 99 वर्ष तक दस, नव एवं आठ अंगधारी रहे। इन्हें शेष अंगों व पूर्व के एकदेश का भी ज्ञान था। ये आचार्य और इनका समय इस प्रकार है --

अहिबल्लि माघनन्दि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली।
अडबीसं इगबीसं उगणीसं तीस बीस बास पुणो।।
-- नन्दि आम्नाय की पट्टावली 16

अर्थात् 62+100+181+123+99 = 565 वर्ष पश्चात् एक अंगधारी अर्हद्बलि आचार्य हुये, जिनका काल 28 वर्ष था। इनके बाद एक अंगधारी माघनन्दि आचार्य हुये, इनका काल 21 वर्ष रहा। इसके पश्चात् आचार्य धरसेन हुये जिनका काल 19 वर्ष रहा। इनके बाद पुष्पदन्त और भूतबलि जिनका काल क्रमशः 30 वर्ष एवं 20 वर्ष रहा। अर्हद्बलि अपने समय के विशाल संघ के नायक थे, इनका दूसरा नाम गुप्तिगुप्त था। इन्हें पूर्वदेश के पुण्डवर्धनपुर का निवासी माना जाता है। इन्होंने पंचवर्षीय युगप्रतिक्रमण के समय एक विशाल यति सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में सौ योजन तक के यति सम्मिलित हुए। उन्हें इन यतियों की भावनाओं से ज्ञात हुआ कि अब पक्षपात का समय आ गया है। अतएव उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त सिंह, चन्द्र आदि जिनका उल्लेख पहले किया गया है इन नामों से भिन्न-भिन्न संघ स्थापित किये, ताकि गणतन्त्रात्मक स्वरूप सुरक्षित रहे और अलग-अलग इकाइयों में रहकर भी सभी आचार-विचार और मर्यादाओं में समान रूप से संरक्षित होकर आत्मकल्याण में निर्विघ्न संलग्न रह सकें तथा एक स्थान की अपेक्षा देश के सभी क्षेत्रों में जा-जाकर नैतिकता आदि का प्रसार अधिकता से कर सकें।

इस प्रकार संघों के इस विवेचन से स्पष्ट है कि अनुशासन, आचार-विचार और संयम की निरन्तर प्रगति हेतु सभी संघ कुछ इकाइयों में अलग-अलग बँटकर भी विभिन्न क्षेत्रों में अनेक बाधाओं और कठिनाईयों के बावजूद जैनधर्म-दर्शन और उसकी संस्कृति तथा साहित्य की मूल परम्पराओं को सुरक्षित रखकर सम्पूर्ण भारत में अहिंसा, अनेकान्तवाद और सर्वोदय की अलख जगाए हुए थे। परन्तु तीर्थंकर महावीर ने श्रमणसंघ को जो गणतन्त्रात्मक स्वरूप दिया था उसकी रक्षा करते हुए आत्मकल्याण के मार्ग पर सुदृढ़ रहने की सभी को समान रूप से चिन्ता ही नहीं रही फलतः किंचित् शिथिलाचार भी आया। किन्तु उसका खुलकर विरोध भी किया गया और यही कारण है कि आज भी सम्पूर्ण भारत में जैन श्रमण संघों के प्रति समान रूप से सभी की परम आस्था है। इस आस्था की रक्षा हेतु सभी संघ सदा सचेष्ट भी रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. रत्नत्रयोपेतः श्रमणगतः संघः -- सर्वार्थसिद्धि, 6/13, पृ. 331
2. श्रमयन्ति तपस्यन्ति इति श्रमणाः तेषां समुदायः श्रमणसंघः
   -- भगवतीआराधना, विजयोदयाटीका, 510, पृ. 730
3. मूलाचार, 5/66
4. नन्दिसूत्र स्थविरावली, 7-8
5. सर्वार्थसिद्धि, 9/24, पृ. 442, त. 2, श्लोक वा., 9/24, भावपाहुड टीका, 78
6. आचारांगशीलांकवृत्ति, 2,1,10,279, पृ. 322
7. आ. भिक्षु स्मृति ग्रन्थ -- द्वितीय खण्ड, पृ. 291
8. वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं।
   विवाहे राग उत्पत्ति गणो दोसाणमागरो।। -- मूलाचार, 10.92
9. आचार्यभिक्षु स्मृतिग्रन्थ, पृ. 292
10. गच्छ ऋषिकुलं -- मूलाचार वृत्ति 4/185
11. सप्तपुरुषकस्त्रिपुरुषको वा गच्छः, वही, 4/174
12. सर्वार्थसिद्धि, 9/24, पृ. 442
13. स्थानांग टीका (अभयदेवसूरी), पृ. 516
14. मूलाचार, 4/166
15. आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ, पृ. 291
16. प्रवचनसार ता. वृत्ति, 203, पृ. 276
17. यापनीय और उनका साहित्य, पृ. 42
18. गोपुच्छिका श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकाः।
    निपिच्छकाश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः।। -- इन्द्रनन्दिश्रुतावतार, 10
19. पद्मचरितम् - भाग 1, श्री नाथूराम प्रेमी का प्राक्कथन, सन् 1928
20. तस्मिन्गते स्वर्गभुवं महर्षौ दिवःपतिं नर्तुमिवप्रकृष्टां।
    तदन्वयोद्भूत मुनीश्वराणां बभूवुरित्थं भुवि संघभेदाः।।19।। जैन सिद्धान्त भाष्कर अंक 2-3 में प्रकाशित शिलालेख।
21. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग 2, पृ. 55
22. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार श्लोक, 91-95
23. आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटा-
    द्देवाश्चान्योऽपरादिर्जित इतियतयो सेन-भद्राद्यौ च।
    पंचस्तप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मलीवृक्षमूलात्
    निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात्।।
    - इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार श्लोक 96
24. आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ, पृ. 295
25. वही,
26. यापनीय और उनका साहित्य, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, पृ. 41,
27. आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ, पृ. 294

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

28. दर्शनसार, 24-28
29. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग 2, पृ. 213-214 (यापनीय और उसका साहित्य, पृ. 56 से उद्धृत)
30. पं. बुलाकीचन्दकृत वचनकोश (यापनीय और उसका साहित्य, पृ. 59 से उद्धृत)
31. जैनशिलालेख संग्रह, भाग 3, प्रस्तावना, पृ. 62
32. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग 2, पृ. 57

* फूलचन्द जैन "प्रेमी", अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-2.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org